॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

ईशावास्योपनिषद्

यह ईशावास्योपनिषद् शुक्लयजुर्वेदसंहिताका चालीसवाँ अध्याय है। मन्त्र-भागका अंश होनेसे इसका विशेष महत्त्व है। इसीको सबसे पहली उपनिषद् माना जाता है। शुक्लयजुर्वेदके प्रथम उनतालीस अध्यायोंमें कर्मकाण्डका निरूपण हुआ है। यह उस काण्डका अन्तिम अध्याय है और इसमें भगवत्तत्त्वस्वरूप ज्ञानकाण्डका निरूपण किया गया है। इसके पहले मन्त्रमें 'ईशा वास्यम्' वाक्य आनेसे इसका नाम 'ईशावास्य' माना गया है।

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥*

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

ॐ=सच्चिदानन्दघन, **अदः**=वह परब्रह्म; **पूर्णम्**=सब प्रकारसे पूर्ण है, **इदम्**=यह (जगत् भी), **पूर्णम्**=पूर्ण (ही) है; (क्योंकि) **पूर्णात्**=उस पूर्ण (परब्रह्म)से ही; **पूर्णम्**=यह पूर्ण, **उदच्यते**=उत्पन्न हुआ है, **पूर्णस्य**=पूर्णके, **पूर्णम्**=पूर्णको, **आदाय**=निकाल लेनेपर (भी), **पूर्णम्**=पूर्ण, **एव**=ही, **अवशिष्यते**=बच रहता है।

व्याख्या—वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म पुरुषोत्तम सब प्रकारसे सदा-सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत् भी उस परब्रह्मसे पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तमसे ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्मकी पूर्णतासे जगत् पूर्ण होनेपर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्णमेंसे पूर्णको निकाल लेनेपर भी वह पूर्ण ही बच रहता है।

त्रिविध तापकी शान्ति हो।

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥ १॥

जगत्याम्=अखिल ब्रह्माण्डमें, **यत् किं च**=जो कुछ भी, **जगत्**=जड-चेतनस्वरूप जगत् है, **इदम्**=यह, **सर्वम्**=समस्त; **ईशा**=ईश्वरसे, **वास्यम्**=व्याप्त है, **तेन**=उस ईश्वरको साथ रखते हुए, **त्यक्तेन**=त्यागपूर्वक, **भुञ्जीथाः**=(इसे) भोगते रहो, **मा गृधः**=(इसमें) आसक्त मत होओ, (क्योंकि) **धनम्**=धन—भोग्य-पदार्थ, **कस्य स्वित्**=किसका है अर्थात् किसीका भी नहीं है॥ १॥

व्याख्या—मनुष्योंके प्रति वेद भगवान्‌का पवित्र आदेश है कि अखिल विश्व-ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी यह चराचरात्मक जगत् तुम्हारे देखने-सुननेमें आ रहा है, सब-का-सब सर्वाधार, सर्वनियन्ता, सर्वाधिपति, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वकल्याण-गुणस्वरूप परमेश्वरसे व्याप्त है, सदा सर्वत्र उन्हींसे परिपूर्ण है (गीता ९। ४)। इसका कोई भी अंश उनसे रहित नहीं है (गीता १०। ३९,४२)। ऐसा समझकर उन ईश्वरको निरन्तर अपने साथ रखते हुए—सदा-सर्वदा उनका स्मरण करते हुए ही तुम इस जगत्‌में त्यागभावसे केवल कर्तव्यपालनके लिये ही विषयोंका यथाविधि उपभोग करो अर्थात् यज्ञार्थ—विश्वरूप ईश्वरकी पूजाके लिये ही कर्मोंका आचरण करो। विषयोंमें मनको मत फँसने दो, इसीमें तुम्हारा निश्चित कल्याण है (गीता २। ६४; ३। ९; १८। ४६)। वस्तुतः ये भोग्य-पदार्थ किसीके भी नहीं हैं। मनुष्य भूलसे ही इनमें

---

* यह मन्त्र बृहदारण्यक उपनिषद्‌के पाँचवें अध्यायके प्रथम ब्राह्मणकी प्रथम कण्डिकाका पूर्वार्द्धरूप है।

ममता और आसक्ति कर बैठता है। ये सब परमेश्वरके हैं और उन्हींके लिये इनका उपयोग होना चाहिये * ॥ १ ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

कर्माणि=शास्त्रनियत कर्मोंको, **कुर्वन्**=(ईश्वरपूजार्थ) करते हुए; **एव**=ही, **इह**=इस जगत्में, **शतम् समाः**=सौ वर्षोंतक, **जिजीविषेत्**=जीनेकी इच्छा करनी चाहिये, **एवम्**=इस प्रकार (त्यागभावसे, परमेश्वरके लिये), **कर्म**=किये जानेवाले कर्म, **त्वयि**=तुझ, **नरे**=मनुष्यमें, **न लिप्यते**=लिप्त नहीं होंगे; **इतः**=इससे (भिन्न), **अन्यथा**=अन्य कोई प्रकार अर्थात् मार्ग, **न अस्ति**=नहीं है (जिससे कि मनुष्य कर्मसे मुक्त हो सके) ॥ २ ॥

व्याख्या—अतएव समस्त जगत्के एकमात्र कर्ता, धर्ता, हर्ता, सर्वशक्तिमान् सर्वमय परमेश्वरका सतत स्मरण रखते हुए सब कुछ उन्हींका समझकर उन्हींकी पूजाके लिये शास्त्रनियत कर्तव्यकर्मोंका आचरण करते हुए ही सौ वर्षतक जीनेकी इच्छा करो—इस प्रकार अपने पूरे जीवनको परमेश्वरके प्रति समर्पण कर दो। ऐसा समझो कि शास्त्रोक्त स्वकर्मका आचरण करते हुए जीवन-निर्वाह करना केवल यज्ञार्थ—परमेश्वरकी पूजाके लिये ही है; अपने लिये नहीं—भोग भोगनेके लिये नहीं। कर्म करते हुए कर्मोंमें लिप्त न होनेका यही एकमात्र मार्ग है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी मार्ग कर्मबन्धनसे मुक्त होनेका नहीं है (गीता २ । ५०, ५१, ५ । १०) ॥ २ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मफलरूप जन्मबन्धनसे मुक्त होनेके निश्चित मार्गका निर्देश करके अब इसके विपरीत मार्गपर चलनेवाले मनुष्योंकी गतिका वर्णन करते हैं—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३ ॥

असुर्याः=असुरोंके, (जो) **नाम**=प्रसिद्ध, **लोकाः**=नाना प्रकारकी योनियाँ एवं नरकरूप लोक हैं; **ते**=वे सभी; **अन्धेन तमसा**=अज्ञान तथा दुःख-क्लेशरूप महान् अन्धकारसे; **आवृताः**=आच्छादित हैं, **ये के च**=जो कोई भी; **आत्महनः**=आत्माकी हत्या करनेवाले, **जनाः**=मनुष्य हों; **ते**=वे; **प्रेत्य**=मरकर; **तान्**=उन्हीं भयङ्कर लोकोंको; **अभिगच्छन्ति**=बार-बार प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

व्याख्या—मानव शरीर अन्य सभी शरीरोंसे श्रेष्ठ और परम दुर्लभ है एव वह जीवको भगवान्‌की विशेष कृपासे जन्म-मृत्युरूप ससार-समुद्रसे तरनेके लिये ही मिलता है। ऐसे शरीरको पाकर भी जो मनुष्य अपने कर्मसमूहको ईश्वर-पूजाके लिये समर्पण नहीं करते और कामोपभोगको ही जीवनका परम ध्येय मानकर विषयोंकी आसक्ति और कामनावश जिस किसी प्रकारसे भी केवल विषयोंकी प्राप्ति और उनके यथेच्छ उपभोगमें ही लगे रहते है, वे वस्तुत. आत्माकी हत्या करनेवाले ही हैं; क्योंकि इस प्रकार अपना पतन करनेवाले वे लोग अपने जीवनको केवल व्यर्थ ही नहीं खो रहे हैं वर अपनेको और भी अधिक कर्मबन्धनमे जकड़ रहे हैं। इन काम भोग-परायण लोगोंको,—चाहे वे कोई भी क्यो न हों, उन्हें चाहे ससारमें कितने ही विशाल नाम, यश, वैभव या अधिकार प्राप्त हों,—मरनेके बाद उन कर्मोंके फलस्वरूप बार-बार कूकर-शूकर, कीट-पतगादि विभिन्न शोक-सन्तापपूर्ण आसुरी योनियोंमें और भयानक नरकोंमे भटकना पड़ता है। (गीता १६ । १६, १९, २०) इसीलिये श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है कि मनुष्यको अपनेद्वारा अपना उद्धार करना चाहिये, अपना पतन नहीं करना चाहिये (गीता ६ । ५) ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—जो परमेश्वर सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त हैं, जिनका सतत स्मरण करते हुए तथा जिनकी पूजाके लिये ही समस्त कर्म करने चाहिये, वे कैसे हैं ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

---

* कुछ आदरणीय विद्वानोंने इसका भावार्थ ऐसा माना है—

इस ब्रह्माण्डमें जो कुछ यह जगत् है, सब ईश्वरसे व्याप्त है। उस ईश्वरके द्वारा तुम्हारे लिये जो त्याग किया गया है अर्थात् प्रदान किया गया है, उसीको अनासक्तरूपसे भोगो। किसीके भी धनकी इच्छा मत करो।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥

(**तत्**)=वे परमेश्वर; **अनेजत्**=अचल; **एकम्**=एक; (और) **मनसः**=मनसे (भी), **जवीयः**=अधिक तीव्र गतियुक्त है, **पूर्वम्**=सबके आदि, **अर्षत्**=ज्ञानस्वरूप या सबके जाननेवाले हैं, **एनत्**=इन परमेश्वरको, **देवाः**=इन्द्रादि देवता भी, **न आप्नुवन्**=नहीं पा सके या जान सके है, **तत्**=वे (परब्रह्म पुरुषोत्तम), **अन्यान्**=दूसरे, **धावतः**=दौड़नेवालोको, **तिष्ठत्**=(स्वय) स्थित रहते हुए ही; **अत्येति**=अतिक्रमण कर जाते है, **तस्मिन्**=उनके होनेपर ही—उन्हींकी सत्ता-शक्तिसे, **मातरिश्वा**=वायु आदि देवता, **अपः**=जलवर्षा, जीवकी प्राणधारणादि क्रिया प्रभृति कर्म, **दधाति**=सम्पादन करनेमें समर्थ होते हैं ॥ ४ ॥

व्याख्या—वे सर्वान्तर्यामी सर्वशक्तिमान् परमेश्वर अचल और एक हैं, तथापि मनसे भी अधिक तीव्र वेगयुक्त हैं। जहाँतक मनकी गति है, वे उससे भी कहीं आगे पहलेसे ही विद्यमान हैं। मन तो वहाँतक पहुँच ही नहीं पाता। वे सबके आदि और ज्ञानस्वरूप हैं अथवा सबके आदि होनेके कारण सबको पहलेसे ही जानते हैं। पर उनको देवता तथा महर्षिगण भी पूर्णरूपसे नहीं जान सकते (गीता १० । २)। जितने भी तीव्र वेगयुक्त बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ अथवा वायु आदि देवता हैं, अपनी शक्तिभर परमेश्वरके अनुसधानमें सदा दौड़ लगाते रहते हैं, परतु परमेश्वर नित्य अचल रहते हुए ही उन सबको पार करके आगे निकल जाते हैं। वे सब वहाँतक पहुँच ही नही पाते। असीमकी सीमाका पता ससीमको कैसे लग सकता है? बल्कि वायु आदि देवताओंमें जो शक्ति है, जिसके द्वारा वे जलवर्षण, प्रकाशन, प्राणि-प्राणधारण आदि कर्म करनेमें समर्थ होते हैं, वह इन अचिन्त्यशक्ति परमेश्वरकी शक्तिका एक अशमात्र ही है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—अब परमेश्वरकी अचिन्त्यशक्तिमत्ता तथा व्यापकताका प्रकारान्तरसे पुन वर्णन करते हैं—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

तत्=वे; **एजति**=चलते हैं; **तत्**=वे; **न एजति**=नहीं चलते, **तत्**=वे, **दूरे**=दूरसे भी दूर हैं; **तत्**=वे, **उ अन्तिके**=अत्यन्त समीप हैं; **तत्**=वे, **अस्य**=इस, **सर्वस्य**=समस्त जगत्के, **अन्तः**=भीतर परिपूर्ण हैं, (और) **तत्**=वे, **अस्य**=इस, **सर्वस्य**=समस्त जगत्के; **उ बाह्यतः**=बाहर भी हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—वे परमेश्वर चलते भी हैं और नहीं भी चलते, एक ही कालमे परस्परविरोधी भाव, गुण तथा क्रिया जिनमे रह सकती हैं, वे ही तो परमेश्वर हैं। यह उनकी अचिन्त्य शक्तिकी महिमा है। दूसरे प्रकारसे यह भी कहा जा सकता है कि भगवान् जो अपने दिव्य परम धाममें और लीलाधाममें अपने प्रिय भक्तोंको सुख पहुँचानेके लिये अप्राकृत सगुण-साकार रूपमे प्रकट रहकर लीला किया करते हैं, यह उनका चलना है, और निर्गुणरूपसे जो सदा-सर्वथा अचल स्थित हैं, यह उनका न चलना है। इसी प्रकार वे श्रद्धा-प्रेमसे रहित मनुष्योंको कभी दर्शन ही नहीं देते, अतः उनके लिये दूर-से दूर हैं, और प्रेमकी पुकार सुनते ही जिन प्रेमीजनोके सामने चाहे जहाँ उसी क्षण प्रकट हो जाते हैं, उनके लिये वे समीप-से-समीप हैं। इसके अतिरिक्त वे सदा-सर्वत्र परिपूर्ण हैं, इसलिये दूर-से-दूर भी वही हैं और समीप-से-समीप भी वही हैं; क्योंकि ऐसा कोई स्थान ही नहीं है, जहाँ वे न हों। सबके अन्तर्यामी होनेके कारण भी वे अत्यन्त समीप हैं; पर जो अज्ञानी लोग उन्हें इस रूपमें नहीं पहचानते, उनके लिये वे बहुत दूर हैं। वस्तुतः वे इस समस्त जगत्के परम आधार हैं और परम कारण हैं, इसलिये बाहर-भीतर सभी जगह वे ही परिपूर्ण हैं। * (गीता ७ । ७) ॥ ५ ॥

* कुछ आदरणीय विद्वानोंने इसका भावार्थ इस प्रकार माना है—

यह आत्मतत्त्व अचल रहकर ही चलता हुआ-सा जान पड़ता है, अज्ञानियोंके लिये अप्राप्य होनेसे बहुत दूर है और ज्ञानियोंका आत्मा होनेसे समीप है। महाकाशमें घटाकाशकी भाँति भीतर और बाहर भी वही है।

एक दूसरे विद्वान् यह अर्थ करते हैं—

सम्बन्ध—अब अगले दो मन्त्रोंमें इन परब्रह्म परमेश्वरको जाननेवाले महापुरुषकी स्थितिका वर्णन किया जाता है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ६ ॥

तु=परंतु, **यः**=जो मनुष्य, **सर्वाणि**=सम्पूर्ण, **भूतानि**=प्राणियोंको, **आत्मनि**=परमात्मामें, **एव**=ही; **अनुपश्यति**=निरन्तर देखता है, **च**=और, **सर्वभूतेषु**=सम्पूर्ण प्राणियोंमें, **आत्मानम्**=परमात्माको (देखता है); **ततः**=उसके पश्चात् (वह कभी भी), **न विजुगुप्सते**=किसीसे घृणा नहीं करता ॥ ६ ॥

व्याख्या—इस प्रकार जो मनुष्य प्राणिमात्रको सर्वाधार परब्रह्म पुरुषोत्तम परमात्मामें देखता है और सर्वान्तर्यामी परम प्रभु परमात्माको प्राणिमात्रमें देखता है, वह कैसे किससे घृणा या द्वेष कर सकता है ? वह तो सदा सर्वत्र अपने परम प्रभुके ही दर्शन करता हुआ (गीता ६ । २९-३०) मन-ही-मन सबको प्रणाम करता रहता है तथा सबकी सब प्रकार सेवा करना और उन्हें सुख पहुँचाना चाहता है * ॥ ६ ॥

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

यस्मिन्=जिस स्थितिमें, **विजानतः**=परब्रह्म परमेश्वरको भलीभाँति जाननेवाले महापुरुषके (अनुभवमें), **सर्वाणि**=सम्पूर्ण, **भूतानि**=प्राणी, **आत्मा**=एकमात्र परमात्मस्वरूप, **एव**=ही; **अभूत्**=हो चुकते हैं, **तत्र**=उस अवस्थामें; (उस) **एकत्वम्**=एकताका—एकमात्र परमेश्वरका, **अनुपश्यतः**=निरन्तर साक्षात् करनेवाले पुरुषके लिये; **कः**=कौन-सा; **मोहः**=मोह (रह जाता है और), **कः**=कौन-सा, **शोकः**=शोक ! (वह शोक-मोहसे सर्वथा रहित, आनन्दपरिपूर्ण हो जाता है) ॥ ७ ॥

व्याख्या—इस प्रकार जब मनुष्य परमात्माको भलीभाँति पहचान लेता है, तब उसकी सर्वत्र भगवद्दृष्टि हो जाती है—तब वह प्राणिमात्रमें एकमात्र तत्त्व श्रीपरमात्माको ही देखता है । उसे सदा सर्वत्र परमात्माके दर्शन होते रहते हैं और इस कारण वह इतना आनन्दमग्न हो जाता है कि शोक-मोहादि विकारोंकी छाया भी कहीं उसके चित्तप्रदेशमें नहीं रह जाती । लोगोंके देखनेमें वह सब कुछ करता हुआ भी वस्तुतः अपने प्रभुमें ही क्रीड़ा करता है (गीता ६ । ३१) । उसके लिये प्रभु और प्रभुकी लीलाके अतिरिक्त अन्य कुछ रह ही नहीं जाता † ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—अब इस प्रकार परमप्रभु परमेश्वरको तत्त्वसे जाननेका तथा सर्वत्र देखनेका फल बतलाते हैं—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

सः=वह महापुरुष, **शुक्रम्**=(उन) परम तेजोमय, **अकायम्**=सूक्ष्मशरीरसे रहित; **अव्रणम्**=छिद्ररहित या क्षत-रहित, **अस्नाविरम्**=शिराओंसे रहित—स्थूल पाञ्चभौतिक शरीरसे रहित, **शुद्धम्**=अप्राकृत दिव्य सच्चिदानन्दस्वरूप; **अपाप-**

दूसरे सब उससे भय-प्रकम्पित रहते हैं, पर वे किसीके भयसे नहीं काँपते । वे दूर भी हैं, समीप भी हैं, सबके भीतर भी हैं और बाहर भी ।

* कुछ आदरणीय विद्वान् इस मन्त्रका भावार्थ इस प्रकार करते हैं—

(१) जो मुमुक्षु सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने आत्मासे पृथक् नहीं देखता और उन प्राणियोंके आत्माको अपना ही आत्मा जानता है, वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपने आत्मस्वरूपको देखनेवाला पुरुष किसीसे भी घृणा नहीं करता ।

(२) जो पुरुष सब प्राणियोंको परमात्मामें और सब प्राणियोंमें परमात्माको देखता है, वह निर्भय हो जाता है । फिर वह अपनी रक्षाकी कोई चिन्ता नहीं करता ।

† कुछ आदरणीय विद्वान् इसका ऐसा भावार्थ मानते हैं—

जिस समय आत्मस्वरूपमें परमार्थतत्त्वको जाननेवालेकी दृष्टिमें समस्त प्राणी आत्मभावको ही प्राप्त हो गये होते हैं, उस समय अथवा उस आत्मामें कहाँ मोह रह सकता है और कहाँ शोक ?

विद्धम्=शुभाशुभकर्म-सम्पर्कशून्य परमेश्वरको, **पर्यगात्**=प्राप्त हो जाता है, (जो) **कविः**=सर्वद्रष्टा, **मनीषी**=सर्वज्ञ एव ज्ञानस्वरूप, **परिभूः**=सर्वोपरि विद्यमान एवं सर्वनियन्ता; **स्वयम्भूः**=स्वेच्छासे प्रकट होनेवाले हैं (और), **शाश्वतीभ्यः**= अनादि; **समाभ्यः**=कालसे, **याथातथ्यतः**=सब प्राणियोंके कर्मानुसार यथायोग्य, **अर्थान्**=सम्पूर्ण पदार्थोंकी, **व्यदधात्**= रचना करते आये हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या—उपर्युक्त वर्णनके अनुसार परमेश्वरको सर्वत्र जानने-देखनेवाला महापुरुष उन परब्रह्म पुरुषोत्तम सर्वेश्वरको प्राप्त होता है, जो शुभाशुभ कर्मजनित प्राकृत सूक्ष्म देह तथा पाञ्चभौतिक अस्थि-शिरा-मांसादिमय षड्विकारयुक्त स्थूल देहसे रहित, छिद्ररहित, दिव्य शुद्ध सच्चिदानन्दघन हैं, एवं जो क्रान्तदर्शी—सर्वद्रष्टा हैं, सबके ज्ञाता, सबको अपने नियन्त्रणमें रखनेवाले सर्वाधिपति और कर्मपरवश नहीं, वरं स्वेच्छासे प्रकट होनेवाले हैं। तथा जो सनातन कालसे सब प्राणियोंके लिये उनके कर्मानुसार समस्त पदार्थोंकी यथायोग्य रचना और विभाग-व्यवस्था करते आये हैं * ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—अब अगले तीन मन्त्रोंमें विद्या और अविद्याका तत्त्व समझाया जायगा। इस प्रकरणमें परब्रह्म परमेश्वरकी प्राप्तिके साधन 'ज्ञान'को विद्याके नामसे कहा गया है और स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति अथवा इस लोकके विविध भोगैश्वर्यकी प्राप्तिके साधन 'कर्म'को अविद्याके नामसे। इन ज्ञान और कर्म—दोनोंके तत्त्वको भलीभाँति समझकर उनका अनुष्ठान करनेवाला मनुष्य ही इन दोनों साधनोंके द्वारा सर्वोत्तम तथा वास्तविक फल प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं—इस रहस्यको समझानेके लिये पहले उन दोनोंके यथार्थ स्वरूपको न समझकर अनुष्ठान करनेवालोंकी दुर्गतिका वर्णन करते हैं—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः ॥ ९ ॥

ये=जो मनुष्य; **अविद्याम्**=अविद्याकी; **उपासते**=उपासना करते हैं, **ते**=वे, **अन्धम्**=अज्ञानस्वरूप, **तमः**=घोर अन्धकारमें, **प्रविशन्ति**=प्रवेश करते हैं, (और) **ये**=जो मनुष्य, **विद्यायाम्**=विद्यामें, **रताः**=रत हैं अर्थात् ज्ञानके मिथ्याभिमानमें मत्त हैं, **ते**=वे, **ततः**=उससे, **उ**=भी, **भूयः इव**=मानो अधिकतर, **तमः**=अन्धकारमें (प्रवेश करते हैं) ॥ ९ ॥

व्याख्या—जो मनुष्य भोगोंमें आसक्त होकर उनकी प्राप्तिके साधनरूप अविद्याका—विविध प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, वे उन कर्मोंके फलस्वरूप अज्ञानान्धकारसे परिपूर्ण विविध योनियों और भोगोंको ही प्राप्त होते हैं। वे मनुष्य-जन्मके चरम और परम लक्ष्य श्रीपरमेश्वरको न पाकर निरन्तर जन्म-मृत्युरूप संसारके प्रवाहमें पड़े हुए विविध तापोंसे संतप्त होते रहते हैं।

दूसरे जो मनुष्य न तो अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्तापनके अभिमानसे रहित कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं और न विवेक-वैराग्यादि ज्ञानके प्राथमिक साधनोंका ही सेवन करते हैं, परंतु केवल शास्त्रोंको पढ़-सुनकर अपनेमें विद्याका—ज्ञानका मिथ्या आरोप करके ज्ञानाभिमानी बन बैठते हैं, ऐसे मिथ्याज्ञानी मनुष्य अपनेको ज्ञानी मानकर, 'हमारे लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है' इस प्रकार कहते हुए कर्तव्यकर्मोंका त्याग कर देते हैं और इन्द्रियोंके वशमें होकर शास्त्रविधिसे विपरीत मनमाना आचरण करने लगते हैं। इससे वे लोग सकामभावसे कर्म करनेवाले विषयासक्त मनुष्योंकी अपेक्षा भी अधिकतर अन्धकारको—पशु-पक्षी, शूकर-कूकर आदि नीच योनियोंको और रौरव-कुम्भीपाकादि घोर नरकोंको प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—शास्त्रके यथार्थ तात्पर्यको समझकर ज्ञान तथा कर्मका अनुष्ठान करनेसे जो सर्वोत्तम परिणाम होता है, उसका संकेतसे वर्णन करते हैं—

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥

---

* इस मन्त्रका भावार्थ कुछ आदरणीय महानुभावोंने इस प्रकार भी किया है—

वह पूर्वोक्त निर्विशेष आत्मा आकाशके सदृश सर्वव्यापक, दीप्तिमान्, अशरीरी, अक्षत, स्नायुरहित (स्थूलशरीरसे रहित) तथा धर्माधर्मरूप पापसे रहित है। वह सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सबके ऊपर और स्वयं ही सब कुछ है। उस नित्यमुक्त ईश्वरने संवत्सर नामक प्रजापतियोंको उनकी योग्यताके अनुसार अर्थोंका—कर्तव्य-पदार्थोंका—यथायोग्य विभाग कर दिया है।

विद्यया=ज्ञानके यथार्थ अनुष्ठानसे, **अन्यत् एव**=दूसरा ही फल, **आहुः**=बतलाते हैं (और) **अविद्यया**=कर्मोंके यथार्थ अनुष्ठानसे, **अन्यत्**=दूसरा (ही) फल, **आहुः**=बतलाते हैं; **इति**=इस प्रकार; (हमने) **धीराणाम्**=(उन) धीर पुरुषोंके, **शुश्रुम**=वचन सुने हैं, **ये**=जिन्होंने; **नः**=हमें, **तत्**=उस विषयको, **विचचक्षिरे**=व्याख्या करके भलीभाँति समझाया था ॥ १० ॥

व्याख्या—सर्वोत्तम फल प्राप्त करानेवाले ज्ञानका यथार्थ स्वरूप है—नित्यानित्यवस्तुका विवेक, क्षणभङ्गुर विनाशशील अनित्य इहलौकिक और पारलौकिक भोगसामग्रियो और उनके साधनोंसे पूर्ण विरक्ति, संयमित पवित्र जीवन और एकमात्र सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्मके चिन्तनमें अखण्ड संलग्नता । इसके अनुष्ठानसे परब्रह्म पुरुषोत्तमका यथार्थ ज्ञान होता है और उसके अनन्तर उनकी प्राप्ति होती है (गीता १८ । ४९—५५) । ज्ञानाभिमानमें रत स्वेच्छाचारी मनुष्योंको जो दुर्गतिरूप फल मिलता है, यथार्थ ज्ञानका यह सर्वोत्तम फल उससे सर्वथा भिन्न और विलक्षण है ।

इसी प्रकार सर्वोत्तम फल प्राप्त करानेवाले कर्मका स्वरूप है—कर्ममें कर्तापनके अभिमानका अभाव, राग द्वेष और फलकामनाका अभाव एवं अपने वर्णाश्रम तथा परिस्थितिके अनुरूप केवल भगवत्-सेवाके भावसे श्रद्धापूर्वक शास्त्रविहित कर्मोंका यथायोग्य सेवन । इसके अनुष्ठानसे समस्त दुर्गुण और दुराचारोंका अशेष रूपसे नाश हो जाता है और हर्ष-शोकादि समस्त विकारोंसे रहित होकर साधक मृत्युमय संसार-सागरसे तर जाता है । सकामभावसे किये जानेवाले कर्मोंका जो फल उन कर्ताओंको मिलता है, उससे इस यथार्थ कर्म सेवनका यह फल सर्वथा भिन्न और विलक्षण है ।

इस प्रकार हमने उन परम ज्ञानी महापुरुषोंसे सुना है, जिन्होंने हमें यह विषय पृथक्-पृथक् रूपमें व्याख्या करके भलीभाँति समझाया था ॥ १० ॥

सम्बन्ध—अब उपर्युक्त प्रकारसे ज्ञान और कर्म—दोनोंके तत्त्वको एक साथ भलीभाँति समझनेका फल स्पष्ट शब्दोंमें बतलाते हैं—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ ११ ॥

यः=जो मनुष्य, **तत् उभयम्**=उन दोनोंको, (अर्थात्) **विद्याम्**=ज्ञानके तत्त्वको, **च**=और, **अविद्याम्**=कर्मके तत्त्वको, **च**=भी, **सह**=साथ-साथ, **वेद**=यथार्थतः जान लेता है, **अविद्यया**=(वह) कर्मोंके अनुष्ठानसे, **मृत्युम्**=मृत्युको, **तीर्त्वा**=पार करके, **विद्यया**=ज्ञानके अनुष्ठानसे, **अमृतम्**=अमृतको, **अश्नुते**=भोगता है अर्थात् अविनाशी आनन्दमय परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्रत्यक्ष प्राप्त हो जाता है ॥ ११ ॥

व्याख्या—कर्म और अकर्मका वास्तविक रहस्य समझनेमें बड़े-बड़े बुद्धिमान् पुरुष भी भूल कर बैठते हैं (गीता ४ । १६) । इसी कारण कर्म-रहस्यसे अनभिज्ञ ज्ञानाभिमानी मनुष्य कर्मको ब्रह्मज्ञानमें बाधक समझ लेते हैं और अपने वर्णाश्रमोचित अवश्यकर्तव्य कर्मोंका त्याग कर देते हैं, परंतु इस प्रकारके त्यागसे उन्हें त्यागका यथार्थ फल—कर्मबन्धनसे छुटकारा नहीं मिलता (गीता १८ । ८) । इसी प्रकार ज्ञान (अकर्मावस्था—नैष्कर्म्य) का तत्त्व न समझनेके कारण मनुष्य अपनेको ज्ञानी तथा संसारसे ऊपर उठे हुए मान लेते हैं । अतः वे या तो अपनेको पुण्य-पापसे अलिप्त मानकर मनमाने कर्माचरणमें प्रवृत्त हो जाते हैं, या कर्मोंको भाररूप समझकर उन्हें छोड़ देते हैं और आलस्य, निद्रा तथा प्रमादमें अपने दुर्लभ मानव-जीवनके अमूल्य समयको नष्ट कर देते हैं ।

इन दोनों प्रकारके अनर्थोंसे बचनेका एकमात्र उपाय कर्म और ज्ञानके रहस्यको साथ-साथ समझकर उनका यथायोग्य अनुष्ठान करना ही है । इसीलिये इस मन्त्रमें यह कहा गया है कि जो मनुष्य इन दोनोंके तत्त्वको एक ही साथ भलीभाँति समझ लेता है, वह अपने वर्णाश्रम और परिस्थितिके अनुरूप शास्त्रविहित कर्मोंका स्वरूपतः त्याग नहीं करता, बल्कि उनमें कर्तापनके अभिमानसे तथा राग-द्वेष और फलकामनासे रहित होकर उनका यथायोग्य आचरण करता है । इससे उसकी जीवनयात्रा भी सुखपूर्वक चलती है और इस भावसे कर्मानुष्ठान करनेके फलस्वरूप उसका अन्तःकरण समस्त

दुर्गुणों एवं विकारोंसे रहित होकर अत्यन्त निर्मल हो जाता है और भगवत्कृपासे वह मृत्युमय संसारसे सहज ही तर जाता है। इस कर्मसाधनके साथ-ही-साथ विवेक-वैराग्यसम्पन्न होकर निरन्तर ब्रह्मविचाररूप ज्ञानाभ्यास करते रहनेसे श्रीपरमेश्वरके यथार्थ ज्ञानका उदय होनेपर वह शीघ्र ही परब्रह्म परमेश्वरको साक्षात् प्राप्त कर लेता है * ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—अब अगले तीन मन्त्रोंमें असम्भूति और सम्भूतिका तत्त्व बतलाया जायगा। इस प्रकरणमें 'असम्भूति' शब्दका अर्थ है—जिनकी पूर्णरूपमें सत्ता न हो, ऐसी विनाशशील देव, पितर और मनुष्यादि योनियाँ एवं उनकी भोगसामग्रियाँ। इसीलिये चौदहवें मन्त्रमें 'असम्भूति'के स्थानपर स्पष्टतया 'विनाश' शब्दका प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार 'सम्भूति' शब्दका अर्थ है—सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाला अविनाशी परब्रह्म पुरुषोत्तम (गीता ७। ६-७)।

देव, पितर और मनुष्यादिकी उपासना किस प्रकार करनी चाहिये और अविनाशी परब्रह्मकी किस प्रकार—इस तत्त्वको समझकर उनका अनुष्ठान करनेवाले मनुष्य ही उनके सर्वोत्तम फलोंको प्राप्त हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। इस भावको समझानेके लिये, पहले, उन दोनोंके यथार्थ स्वरूपको न समझकर अनुष्ठान करनेवालोंकी दुर्गतिका वर्णन करते हैं—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याᳪं रताः ॥ १२ ॥

ये=जो मनुष्य; **असम्भूतिम्**=विनाशशील देव-पितरादिकी; **उपासते**=उपासना करते हैं; (**ते**)=वे; **अन्धम्**=अज्ञानरूप; **तमः**=घोर अन्धकारमें; **प्रविशन्ति**=प्रवेश करते हैं, (और) **ये**=जो, **सम्भूत्याम्**=अविनाशी परमेश्वरमें; **रताः**=रत हैं अर्थात् उनकी उपासनाके मिथ्याभिमानमें मत्त हैं; **ते**=वे; **ततः**=उनसे; **उ**=भी; **भूयः इव**=मानो अधिकतर; **तमः**=अन्धकारमें (प्रवेश करते हैं) ॥ १२ ॥

व्याख्या—जो मनुष्य विनाशशील स्त्री, पुत्र, धन, मान, कीर्ति, अधिकार आदि इस लोक और परलोककी भोग-सामग्रियोंमें आसक्त होकर उन्हींको सुखका हेतु समझते हैं तथा उन्हींके अर्जन-सेवनमें सदा संलग्न रहते हैं एवं इन भोग-सामग्रियोंकी प्राप्ति, संरक्षण तथा वृद्धिके लिये उन विभिन्न देवता, पितर और मनुष्यादिकी उपासना करते हैं जो स्वयं जन्म-मरणके चक्रमें पड़े हुए होनेके कारण शरीरकी दृष्टिसे विनाशशील हैं। ऐसे वे भोगासक्त मनुष्य अपनी उपासनाके फलस्वरूप विभिन्न देवताओंके लोकोंको और विभिन्न भोगयोनियोंको प्राप्त होते हैं। यही उनका अज्ञानरूप घोर अन्धकारमें प्रवेश करना है।

दूसरे जो मनुष्य शास्त्रके तात्पर्यको तथा भगवान्के दिव्य गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको न समझनेके कारण न तो भगवान्का भजन-ध्यान ही करते हैं और न श्रद्धाके अभाव तथा भोगासक्तिके कारण लोकसेवा और शास्त्रविहित देवोपासनामें ही प्रवृत्त होते हैं, ऐसे वे विषयासक्त मनुष्य झूठ-मूठ ही अपनेको ईश्वरोपासक बतलाकर सरलहृदय जनतासे अपनी पूजा कराने लगते हैं। ये लोग मिथ्या अभिमानके कारण देवताओंको तुच्छ बतलाते हैं और शास्त्रानुसार अवश्यकर्तव्य देवपूजा तथा गुरुजनोंका सम्मान-सत्कार करना भी छोड़ देते हैं। इतना ही नहीं, दूसरोंको भी अपने वाग्-जालमें फँसाकर उनके मनोंमें भी देवोपासना आदिमें अश्रद्धा उत्पन्न कर देते हैं। ये लोग अपनेको ही ईश्वरके समकक्ष मानते-मनवाते हुए मनमाने दुराचरणमें प्रवृत्त हो जाते हैं। ऐसे दम्भी मनुष्योंको अपने दुष्कर्मोंका कुफल भोगनेके लिये बाध्य होकर कूकर-शूकर आदि नीच योनियोंमें और रौरव-कुम्भीपाकादि नरकोंमें जाकर भीषण यन्त्रणाएँ भोगनी पड़ती हैं। यही उनका विनाशशील देवताओंकी उपासना करनेवालोंकी अपेक्षा भी अधिकतर घोर अन्धकारमें प्रवेश करना है ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—शास्त्रके यथार्थ तात्पर्यको समझकर सम्भूति और असम्भूतिकी उपासना करनेसे जो सर्वोत्तम परिणाम होता है, अब संकेतसे उसका वर्णन करते हैं—

---

* कुछ महानुभावोंने इसका यह भावार्थ माना है—

अविद्या अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्म यानी 'मृत्यु' शब्दवाच्य स्वाभाविक कर्म और ज्ञान—इन दोनोंको तरकर, विद्या अर्थात् देवताज्ञानसे अमृत यानी देवात्मभावको प्राप्त हो जाता है। इस देवात्मभावकी प्राप्तिको ही अमृत कहा जाता है।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

सम्भवात्=अविनाशी ब्रह्मकी उपासनासे, **अन्यत् एव**=दूसरा ही फल; **आहुः**=बतलाते हैं; (और) **असम्भवात्**=विनाशशील देव पितरादिकी उपासनासे, **अन्यत्**=दूसरा (ही) फल, **आहुः**=बतलाते हैं; **इति**=इस प्रकार, (हमने) **धीराणाम्**=(उन) धीर पुरुषोंके, **शुश्रुम**=वचन सुने हैं; **ये**=जिन्होंने, **नः**=हमें; **तत्**=उस विषयको, **विचचक्षिरे**=व्याख्या करके भलीभाँति समझाया था ॥ १३ ॥

व्याख्या—अविनाशी ब्रह्मकी उपासनाका यथार्थ स्वरूप है—परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान्‌को सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वाधार, सर्वमय, सम्पूर्ण ससारके कर्ता, धर्ता, हर्ता, नित्य अविनाशी समझना और भक्ति श्रद्धा तथा प्रेमपरिपूरित हृदयसे नित्य-निरन्तर उनके दिव्य परम मधुर नाम, रूप, लीला, धाम तथा प्राकृत गुणरहित एव दिव्य गुणगणमय सच्चिदानन्द-घन स्वरूपका श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि करते रहना । इस प्रकारकी सच्ची उपासनासे उपासकको शीघ्र ही अविनाशी परब्रह्म पुरुषोत्तमकी प्राप्ति हो जाती है (गीता ९ । ३४) । ईश्वरोपासनाका मिथ्या स्वाँग भरनेवाले दम्भियों-को जो फल मिलता है, उससे इन सच्चे उपासकोंको मिलनेवाला यह फल सर्वथा भिन्न और विलक्षण है ।

इसी प्रकार विनाशी देवता आदिकी उपासनाका यथार्थ स्वरूप है—शास्त्रोंके एव श्रीभगवान्‌के आज्ञानुसार (गीता १७ । १४) देवता, पितर, ब्राह्मण, माता-पिता, आचार्य और ज्ञानी महापुरुषोंकी अवश्यकर्तव्य समझकर सेवा-पूजादि करना और उसको भगवान्‌की आज्ञाका पालन एव उनकी परम सेवा समझना । इस प्रकार निष्कामभावसे अन्य देवताओंकी सेवा-पूजा करनेवालोंके अन्तःकरणकी शुद्धि होती है तथा श्रीभगवान्‌की कृपा एव प्रसन्नता प्राप्त होती है, जिससे वे मृत्युमय ससारसागरसे तर जाते हैं । विनाशशील देवता आदिकी सकाम उपासनासे जो फल मिलता है, उससे यह फल सर्वथा भिन्न और विलक्षण है ।

इस प्रकार हमने उन धीर तत्त्वज्ञानी महापुरुषोंसे सुना है, जिन्होंने हमें यह विषय पृथक्-पृथक् रूपसे व्याख्या करके भलीभाँति समझाया था ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—अब उपर्युक्त प्रकारसे सम्भूति और असम्भूति दोनोंके तत्त्वको एक साथ भलीभाँति समझनेका फल स्पष्ट बतलाते हैं—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥ १४ ॥

यः=जो मनुष्य; **तत् उभयम्**=उन दोनोंको; (अर्थात्) **सम्भूतिम्**=अविनाशी परमेश्वरको; **च**=और; **विनाशम्**=विनाशशील देवादिको, **च**=भी, **सह**=साथ-साथ; **वेद**=यथार्थतः जान लेता है; **विनाशेन**=(वह) विनाशशील देवादिकी उपासनासे, **मृत्युम्**=मृत्युको, **तीर्त्वा**=पार करके; **सम्भूत्या**=अविनाशी परमेश्वरकी उपासनासे, **अमृतम्**=अमृत-को, **अश्नुते**=भोग करता है अर्थात् अविनाशी आनन्दमय परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्रत्यक्ष प्राप्त हो जाता है ॥ १४ ॥

व्याख्या—जो मनुष्य यह समझ लेता है कि परब्रह्म पुरुषोत्तम नित्य अविनाशी, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वाधिपति, सर्वात्मा और सर्वश्रेष्ठ है, वे परमेश्वर नित्य निर्गुण (प्राकृत गुणोंसे सर्वथा रहित) और नित्य सगुण (स्वरूप-भूत दिव्यकल्याणगुणगणविभूषित) हैं । और इसीके साथ जो यह भी समझ लेता है कि देवता, पितर, मनुष्य आदि जितनी भी योनियाँ तथा भोगसामग्रियाँ हैं, सभी विनाशशील, क्षणभङ्गुर और जन्म-मृत्युशील होनेके कारण महान् दुःखकी कारण हैं; तथापि इनमें जो सत्ता-स्फूर्ति तथा शक्ति है, वह सभी भगवान्‌की है और भगवान्‌के जगच्चक्रके सुचारुरूपसे चलते रहनेके लिये भगवत्प्रीत्यर्थ ही इनकी यथास्थान यथायोग्य सेवा पूजा आदि करनेकी शास्त्रोंने आज्ञा दी है और शास्त्र भगवान्‌की ही वाणी है । वह मनुष्य इहलौकिक तथा पारलौकिक देव पितरादि लोकोंके भोगोंमे आसक्त न होकर कामना-ममता आदिको हृदयसे निकालकर इन सबकी यथायोग्य शास्त्रविहित सेवा-पूजादि करता है । इससे उसकी जीवन-

यात्रा सुखपूर्वक चलती है,* और उसके आभ्यन्तरिक विकारोंका नाश होकर अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है एवं भगवत्कृपासे वह सहज ही मृत्युमय संसार-सागरको तर जाता है। विनाशशील देवता आदिकी निष्काम उपासनाके साथ-ही-साथ अविनाशी परात्पर प्रभुकी उपासनासे वह शीघ्र ही अमृतरूप परमेश्वरको प्रत्यक्ष प्राप्त कर लेता है † ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—श्रीपरमेश्वरकी उपासना करनेवालेको परमेश्वरकी प्राप्ति होती है, यह कहा गया है। अतः भगवानके भक्तको अन्तकालमें परमेश्वरसे उनकी प्राप्तिके लिये किस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

पूषन्=हे सबका भरण-पोषण करनेवाले परमेश्वर; **सत्यस्य**=सत्यस्वरूप आप सर्वेश्वरका, **मुखम्**=श्रीमुख, **हिरण्मयेन**=ज्योतिर्मय सूर्यमण्डलरूप; **पात्रेण**=पात्रसे, **अपिहितम्**=ढका हुआ है; **सत्यधर्माय**=आपकी भक्तिरूप सत्य-धर्मका अनुष्ठान करनेवाले मुझको; **दृष्टये**=अपने दर्शन करानेके लिये; **तत्**=उस आवरणको, **त्वम्**=आप, **अपावृणु**=हटा लीजिये ॥ १५ ॥

व्याख्या—भक्त इस प्रकार प्रार्थना करे कि हे भगवन्! आप अखिल ब्रह्माण्डके पोषक हैं, आपसे ही सबको पुष्टि प्राप्त होती है। आपकी भक्ति ही सत्य धर्म है और मैं उसमें लगा हुआ हूँ; अतएव मेरी पुष्टि—मेरे मनोरथकी पूर्ति तो आप अवश्य ही करेंगे। आपका दिव्य श्रीमुख—सच्चिदानन्दस्वरूप प्रकाशमय सूर्यमण्डलसे चमचमाती हुई ज्योतिर्मयी यवनिकासे आवृत है। मैं आपका निरावरण प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहता हूँ, अतएव आपके पास पहुँचकर आपका निरावरण दर्शन करनेमें बाधा देनेवाले जितने भी, जो भी आवरण—प्रतिबन्धक हों, उन सबको मेरे लिये आप हटा लीजिये। अपने सच्चिदानन्दस्वरूपको प्रत्यक्ष प्रकट कीजिये ‡ ॥ १५ ॥

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥

पूषन्=हे भक्तोंका पोषण करनेवाले; **एकर्षे**=हे मुख्य ज्ञानस्वरूप, **यम**=हे सबके नियन्ता; **सूर्य**=हे भक्तो या ज्ञानियों (सूरियों) के परम लक्ष्यरूप, **प्राजापत्य**=हे प्रजापतिके प्रिय; **रश्मीन्**=इन रश्मियोंको; **व्यूह**=एकत्र कीजिये या हटा लीजिये; **तेजः**=इस तेजको, **समूह**=समेट लीजिये या अपने तेजमें मिला लीजिये; **यत्**=जो, **ते**=आपका, **कल्याणतमम्**=अतिशय कल्याणमय; **रूपम्**=दिव्य स्वरूप है, **तत्**=उस, **ते**=आपके दिव्य स्वरूपको, **पश्यामि**=मैं आपकी कृपासे ध्यानके द्वारा देख रहा हूँ, **यः**=जो; **असौ**=वह (सूर्यका आत्मा) है; **असौ**=वह, **पुरुषः**=परम पुरुष (आपका ही स्वरूप है), **अहम्**=मैं (भी), **सः अस्मि**=वही हूँ ॥ १६ ॥

व्याख्या—भगवन्! आप अपनी सहज कृपासे भक्तोंके भक्ति-साधनमें पुष्टि प्रदान करके उनका पोषण करनेवाले हैं, आप समस्त ज्ञानियोंमें अग्रगण्य, परम ज्ञानस्वरूप तथा अपने भक्तोंको अपने स्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्रदान करनेवाले हैं (गीता १० । १२); आप सबका यथायोग्य नियमन, नियन्त्रण और शासन करनेवाले हैं; आप ही भक्तों या ज्ञानी महापुरुषोंके लक्ष्य हैं और अविज्ञेय होनेपर भी अपने भक्तवत्सल स्वभावके कारण भक्तिके द्वारा उनके जाननेमें आ

* कई आदरणीय महानुभावोंने असम्भूतिका अर्थ 'अव्याकृत प्रकृति' और सम्भूतिका अर्थ 'कार्यब्रह्म' किया है। एवं कहा है कि कार्यब्रह्मकी उपासनासे अधर्म तथा कामनादि दोषजनित अनैश्वर्यरूप मृत्युको पार करके, हिरण्यगर्भकी उपासनासे अणिमादि ऐश्वर्यकी प्राप्तिरूप फल मिलता है। अतएव उससे अनैश्वर्य आदि मृत्युको पार करके इस अव्यक्तोपासनासे प्रकृतिलयरूप अमृत प्राप्त कर लेता है।

† कुछ अन्य महानुभावोंने असम्भूतिका अर्थ 'संहारकर्ता' और सम्भूतिका 'सृष्टिकर्ता' माना है।

‡ एक महानुभावने इस मन्त्रका यह अर्थ किया है—

हे पूर्ण परमात्मन्! सोनेके ढकनेसे (सोनेके समान मन-लुभावने विषयरूपी मायाके परदेसे) तुझ सत्यका मुख ढका हुआ है अर्थात् हम विषयोंमें फँसे हुए हैं। हे सबके पोषक! उस ढकनेको मुझ सत्य-परायण साधकके लिये तू उठा दे, जिससे मैं दर्शन कर सकूँ।

जाते हैं, आप प्रजापतिके भी प्रिय हैं। हे प्रभो ! इस सूर्यमण्डलकी तप्त रश्मियोंको एकत्र करके अपनेमें लुप्त कर लीजिये। इसके उग्र तेजको समेटकर अपनेमें मिला लीजिये और मुझे अपने दिव्यरूपके प्रत्यक्ष दर्शन कराइये। अभी तो मै आपकी कृपासे आपके सौन्दर्य-माधुर्य-निधि दिव्य परम कल्याणरूप सच्चिदानन्दस्वरूपका ध्यान दृष्टिसे दर्शन कर रहा हूँ, साथ ही बुद्धिके द्वारा समझ भी रहा हूँ कि वही आप परम पुरुष इस सूर्यके और समस्त विश्वके आत्मा हैं। अतः आपके लिये जो वह सूर्यमण्डलस्थ पुरुष है, वही मैं भी हूँ। उस पुरुषमें और मुझमें किसी प्रकारका भेद नहीं है *॥ १६ ॥

सम्बन्ध—ध्यानके द्वारा भगवान्‌के दिव्य मङ्गलमय स्वरूपके दर्शन करता हुआ साधक अब भगवान्‌की साक्षात् सेवामें पहुँचनेके लिये व्यग्र हो रहा है और शरीरका त्याग करते समय सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरके सर्वथा विघटनकी भावना करता हुआ भगवान्‌से प्रार्थना करता है—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर ॥ १७॥

अथ=अब, **वायुः**=ये प्राण और इन्द्रियाँ, **अमृतम्**=अविनाशी; **अनिलम्**=समष्टि वायु-तत्त्वमें; (**प्रविशतु**=प्रविष्ट हो जायँ,) **इदम्**=यह, **शरीरम्**=स्थूल शरीर; **भस्मान्तम्**=अग्निमें जलकर भस्मरूप, (**भूयात्**=हो जाय;) **ॐ**=हे सच्चिदानन्दघन; **क्रतो**=यज्ञमय भगवन्, **स्मर**=(आप मुझ भक्तको) स्मरण करें; **कृतम्**=मेरे द्वारा किये हुए कर्मोंका; **स्मर**=स्मरण करें; **क्रतो**=हे यज्ञमय भगवन्; **स्मर**=(आप मुझ भक्तको) स्मरण करें; **कृतम्**=(मेरे) कर्मोंको, **स्मर**=स्मरण करें ॥ १७ ॥

व्याख्या—परमधामका यात्री वह साधक अपने प्राण, इन्द्रिय और शरीरको अपनेसे सर्वथा भिन्न समझकर उन सबको उनके अपने-अपने उपादान तत्त्वोंमें सदाके लिये विलीन करना एवं सूक्ष्म और स्थूल शरीरका सर्वथा विघटन करना चाहता है। इसलिये कहता है कि प्राणादि समष्टिवायु आदिमें प्रविष्ट हो जायँ और स्थूल शरीर जलकर भस्म हो जाय। फिर वह अपने आराध्य देव परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीभगवान्‌से प्रार्थना करता है कि हे यज्ञमय विष्णु—सच्चिदानन्द विज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! आप अपने निजजन मुझको और मेरे कर्मोंको स्मरण कीजिये। आप स्वभावसे ही मेरा और मेरे द्वारा बने हुए भक्तिरूप कार्योंका स्मरण करेंगे; क्योंकि आपने कहा है, 'अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम्'—मैं अपने भक्तका स्मरण करता हूँ और उसे परम गतिमें पहुँचा देता हूँ, अपनी सेवामें स्वीकार कर लेता हूँ, क्योंकि यही सर्वश्रेष्ठ गति है।

इसी अभिप्रायसे भक्त यहाँ दूसरी बार फिर कहता है कि भगवन् ! आप मेरा और मेरे कर्मोंका स्मरण कीजिये। अन्तकालमें मैं आपकी स्मृतिमें आ गया तो फिर निश्चय ही आपकी सेवामें शीघ्र पहुँच जाऊँगा † ॥ १७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अपने आराध्यदेव परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान्‌से प्रार्थना करके अब साधक अपुनरावर्ती अर्चि आदि मार्गके द्वारा परम धाममें जाते समय उस मार्गके अग्नि-अभिमानी देवतासे प्रार्थना करता है—

---

* एक आदरणीय विद्वान्‌ने १६ वें मन्त्रका यह अर्थ किया है—

हे जगत्‌का पोषण करनेवाले पूषन् ! अकेले विचरण करनेवाले एकर्षे ! सबका नियमन करनेवाले यम ! प्राण और रसोंका शोषण करनेवाले सूर्य ! प्रजापति-पुत्र प्राजापत्य ! अपनी किरणोंको हटा लो, अपने तेजको समेट लो। तुम्हारा जो परम कल्याणमय और अत्यन्त शोभन स्वरूप है, उसे तुम आत्माकी कृपासे मैं देखता हूँ। तथा यह मैं तुमसे सेवककी भाँति याचना नहीं करता, क्योंकि यह जो व्याहृतिरूप अङ्गोंवाला आदित्यमण्डलस्थ पुरुष है—जो पुरुषाकार होनेसे अथवा जो प्राण और बुद्धिरूपसे सम्पूर्ण जगत्‌को पूर्ण किये हुए है या जो शरीररूप पुरमें शयन करनेके कारण पुरुष है—वह मैं ही हूँ ॥ १६ ॥

† अनुसार [illegible]
समय जो मेरा स्मरणीय है, उसका स्मरण कर, अब यह उसका समय उपस्थित हो गया है, अतः तू स्मरण कर। 'क्रतो स्मर कृतं स्मर'का पुनरुक्ति यहाँ आदरके लिये है।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥ १८ ॥

अग्ने=हे अग्निके अधिष्ठातृ देवता !, **अस्मान्**=हमें, **राये**=परम धनरूप परमेश्वरकी सेवामें पहुँचानेके लिये; **सुपथा**=सुन्दर शुभ (उत्तरायण) मार्गसे; **नय**=(आप) ले चलिये, **देव**=हे देव; (आप हमारे) **विश्वानि**=सम्पूर्ण, **वयुनानि**=कर्मोंको; **विद्वान्**=जाननेवाले हैं; (अतः) **अस्मत्**=हमारे, **जुहुराणम्**=इस मार्गके प्रतिबन्धक, **एनः**=(यदि कोई) पाप हैं (तो उन सबको); **युयोधि**=(आप) दूर कर दीजिये; **ते**=आपको, **भूयिष्ठाम्**=बार-बार; **नमउक्तिम्**=नमस्कारके वचन; **विधेम**=(हम) कहते हैं—बार-बार नमस्कार करते हैं ॥ १८ ॥

व्याख्या—साधक कहता है—हे अग्निदेवता ! मैं अब अपने परम प्रभु भगवान्‌की सेवामें पहुँचना और सदाके लिये उन्हींकी सेवामें रहना चाहता हूँ । आप शीघ्र ही मुझे परम सुन्दर मङ्गलमय उत्तरायणमार्गसे भगवान्‌के परमधाममें पहुँचा दीजिये । आप मेरे कर्मोंको जानते हैं । मैंने जीवनमें भगवान्‌की भक्ति की है और उनकी कृपासे इस समय भी मैं ध्याननेत्रोंसे उनके दिव्य स्वरूपके दर्शन और उनके नामोंका उच्चारण कर रहा हूँ । मेरा अधिकार है कि मैं इसी मार्गसे जाऊँ । तथापि यदि आपके ध्यानमें मेरा कोई ऐसा कर्म शेष हो, जो इस मार्गमें प्रतिबन्धकरूप हो, तो आप कृपा करके उसे नष्ट कर दीजिये । मैं आपको बार-बार विनयपूर्वक नमस्कार करता हूँ *-† ॥ १८ ॥

॥ यजुर्वेदीय ईशावास्योपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः

इसका अर्थ ईशावास्योपनिषद्‌के प्रारम्भमें दिया जा चुका है ।

* इस मन्त्रका भावार्थ एक सज्जन इस प्रकार करते हैं—

हे सबके अग्रणी (जगद्गुरो) ! तू हमें धनके लिये—लोक और परलोकके सुखके लिये नेकीके रास्तेसे चला । हे सबके अन्तर्यामी प्रकाशमान ! तू हमारे सब ज्ञानोंको जाननेवाला है । हमसे अच्छे मार्गमें बाधा देनेवाले कुटिल पापको दूर कर । हम तुझे बार-बार नमस्कार करते हैं ।

† इस उपनिषद्‌का पन्द्रहवाँ और सोलहवाँ मन्त्र सबके लिये मननीय है । उन मन्त्रोंके भावके अनुसार सबको भगवान्‌से दर्शन देनेके लिये प्रार्थना करनी चाहिये । 'सत्यधर्माय दृष्टये' का यह भाव भी समझना चाहिये कि 'भगवन् ! आप अपने स्वरूपका वह आवरण—वह परदा हटा दीजिये, जिससे सत्यधर्मरूप आप परमेश्वरकी प्राप्ति तथा आपके मङ्गलमय श्रीविग्रहका दर्शन हो सके । इसी प्रकार सत्रहवें और अठारहवें मन्त्रके भावका भी प्रत्येक मनुष्यको विशेषतः मुमूर्षु अवस्थामें अवश्य स्मरण करना चाहिये । इन मन्त्रोंके अनुसार अन्तकालमें भगवान्‌की प्रार्थना करनेसे मनुष्यमात्रका कल्याण हो सकता है । भगवान्‌ने स्वयं भी गीतामें कहा है—'अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् । यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥' मुमूर्षुमात्रके लाभके लिये इन दो मन्त्रोंका भावार्थ इस प्रकार है—'हे परमात्मन् ! मेरे ये इन्द्रिय और प्राण आदि अपने-अपने कारण-तत्त्वोंमें लीन हो जायँ और मेरा यह स्थूल शरीर भी भस्म हो जाय । इनके प्रति मेरे मनमें किञ्चित् भी आसक्ति न रहे । हे यज्ञमय विष्णो ! आप कृपा करके मेरा और मेरे कर्मोंका स्मरण करें । आपके स्मरण कर लेनेसे मैं और मेरे कर्म सब पवित्र हो जायँगे । फिर तो मैं अवश्य ही आपके चरणोंकी सेवामें पहुँच जाऊँगा ॥ १७ ॥ हे अग्निस्वरूप परमेश्वर ! आप ही मेरे धन हैं—सर्वस्व हैं, अतः आपकी ही प्राप्तिके लिये आप मुझे उत्तम मार्गसे अपने चरणोंके समीप पहुँचाइये । मेरे जितने भी शुभाशुभ कर्म हैं, वे आपसे छिपे नहीं हैं, आप सबको जानते हैं, मैं उन कर्मोंके बलपर आपको नहीं पा सकता, आप स्वयं ही दया करके मुझे अपना लीजिये । आपकी प्राप्तिमें जो भी प्रतिबन्धक पाप हों उन सबको आप दूर कर दें; मैं बारबार आपको नमस्कार करता हूँ ॥ १८ ॥'